।। दंसण मूलो धम्मो।।

आत्मधर्म

शाश्वत सुख का मार्गदर्शक मासिक पत्र

सम्पादक : रामजी माणेकचन्द दोशी वकील

वर्ष छठवाँ
अंक बारहवाँ

७२

चैत्र
२४७७

श्रेणिक राजा तीर्थङ्कर होंगे—यह किसका प्रताप?

श्रेणिक राजा को कोई व्रत या चारित्र नहीं था, तथापि 'मैं पर का कर्ता नहीं हूँ'—ऐसी सम्यक्श्रद्धा के बल से वे एकावतारी हुए। भविष्य में तीर्थङ्कर भगवान होंगे। उनको अन्तर में निश्चय स्वरूप का यथार्थ भान था, पर का स्वामित्व नहीं था, इसी से एकावतारीपना हुआ। यहाँ मात्र सम्यग्दर्शन की ही महिमा है। उसके बिना अनन्तबार धर्म के नाम पर व्रतादि क्रियाएँ की, शरीर को काँटों में रखकर जला डाले, तो भी क्रोध न करे, ऐसी क्षमा धारण की, तथापि धर्म नहीं हुआ, मात्र शुभभाव हुआ। इतना करने पर भी आत्मा मन-वाणी-देह से पर है, पुण्य-पाप के विकल्प से रहित है—ऐसी श्रद्धा नहीं जमी, इससे जीव संसार में भटका।

(समयसार-प्रवचन)

एक अंक
चार आना

वार्षिक मूल्य
तीन रुपया

जैन स्वाध्यायमन्दिर : सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

इस अंक के लेख

१- अनादि का अज्ञान दूर होकर भेदज्ञान किसप्रकार हो?
२- सुख के सम्बन्ध में विचार
३- समयसार में देशनालब्धि
४- गृहस्थों का धर्म
५- जिज्ञासु शिष्य को श्रीगुरु भव-भ्रमण के अन्त का उपाय समझते हैं।
६- श्री तीर्थङ्कर भगवान का आदेश

चैत्र
२४७७

आत्मधर्म

वर्ष छठवाँ
अंक–१२

अनादि का अज्ञान दूर होकर भेदज्ञान किस प्रकार हो?

[राजकोट शहर में पंचकल्याणक-प्रतिष्ठा-महोत्सव के समय वी सं० २४७६ के फाल्गुन शुक्ला ८ के दिन भगवान के गर्भकल्याणक प्रसंग पर श्री समयसार गाथा ४१ पर पूज्य श्री कानजीस्वामी का प्रवचन]

(१) गर्भकल्याणक

श्री तीर्थङ्कर भगवान का आत्मा पूर्व तीसरे भव में आत्मा के भानसहित शुभ-विकल्प उठने से तीर्थङ्कर नामकर्म बाँधता है। वह तीर्थङ्कर नामकर्म की प्रकृति तीर्थङ्कर होनेवाले आत्मा को ही बँधती है, दूसरे जीव शुभराग द्वारा या सोलह भावनाओं द्वारा वह बाँधना चाहें तो नहीं बँधती। श्री तीर्थङ्कर भगवान का आत्मा जब माता के गर्भ में आनेवाला होता है, उस समय छह मास पूर्व से देव, माता की सेवा करने आते हैं, और कहते हैं कि अहो! रत्नकूख धारिणी माता! आपको धन्य है! छह मास पश्चात् आपकी कूख से जगदोद्धारक त्रिलोकीनाथ तीर्थङ्कर देव अवतरित होनेवाले हैं। आप भगवान की ही माता नहीं किन्तु जगत की माता हो। इत्यादि प्रकार से भक्ति करते हैं और माता-पिता के घर रत्नों की वर्षा करते हैं। छह मास पश्चात् माताजी को सोलह स्वप्न आते हैं और भगवान का जीव उनके गर्भ में आ जाता है। – ऐसे गर्भ कल्याणक का दृश्य यहाँ आज हुआ है। भगवान का आत्मा सम्यग्दर्शन और मति-श्रुत एवं अवधिज्ञान सहित ही माता के गर्भ में आता है।

(२) भगवान क्या करने से मुक्ति को प्राप्त हुए?

भगवान के आत्मा ने क्या कार्य करके मोक्ष प्राप्त किया? और अज्ञानी आत्मा क्या कार्य करने से संसार में परिभ्रमण करता है?–यह बात इस समयसार कर्ता-कर्म अधिकार में चल रही है। इस ७१ वीं गाथा में श्री आचार्यदेव कहते हैं कि–धर्मी जीव आत्मा और आस्रवों का भेद जानता हुआ विकार का कर्ता नहीं होता, किन्तु अपने स्वभाव की दृष्टि से सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप निर्मल परिणामों को ही करता है। और अधर्मी जीव आस्रव तथा आत्मा को एकरूप मानकर विकार का ही कर्ता होता है। परद्रव्य का कर्ता तो ज्ञानी या अज्ञानी कोई हो ही नहीं

सकता। श्री तीर्थङ्कर भगवान के आत्मा ने पर जीवों का कुछ नहीं किया है, परन्तु अपने आत्मा को विकार से भिन्न जानकर, आत्मस्वभाव के आश्रय से सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र भाव को ही किया है; और यही मुक्ति का उपाय है।

आत्मा क्या करे तो उसे अधर्म होता है? और क्या करने से धर्म होता है?—उसकी यह बात है। यह बात यथार्थरूप से समझे तो अपने आत्मा में अधर्म दूर करके धर्म प्रगट किए बिना न रहे।

(३) अज्ञानी के कर्ता–कर्मपने की मिथ्या बुद्धि

आत्मा ज्ञानादि स्वभाव की मूर्ति है; अज्ञानी जीव अपनी अवस्था में स्वयं अपराधी होकर विकार करता है, और वह 'विकार मेरा कार्य तथा मैं उसका कर्ता'—ऐसा मानता है। विकार को और आत्मस्वभाव को वह पृथक् नहीं जानता, इससे विकार और आत्मा को एक मानकर विकार का कर्ता होता है। अपनी अवस्था के अतिरिक्त पर में तो आत्मा कुछ कर ही नहीं सकता, क्योंकि एक तत्त्व का दूसरे तत्त्व में अभाव है; आत्मा के स्वभाव में विकार नहीं है, इसलिए स्वभाव से आत्मा विकार का कर्ता नहीं है। और आत्मा की अवस्था में विकार किसी दूसरे ने नहीं कराया है किन्तु स्वयं अपराध से किया है। विकार भाव ही मेरा कर्म है और मैं उसका कर्ता हूँ—ऐसी विकार बुद्धिवाला जीव अज्ञानी है। आत्मा के शुद्ध चिदानन्द ज्ञाता-स्वभाव में विकार नहीं है, किन्तु उस स्वभाव से च्युत हुई दृष्टि में अज्ञानी जीव विकार का कर्ता होता है। शरीरादि पर मेरा कार्य और मैं उसका कर्ता—ऐसी पर में कर्ता-कर्मपने की बुद्धि, वह अज्ञान है। अज्ञान से उत्पन्न हुई विकार के कर्ता-कर्म की प्रवृत्ति अज्ञानी के अनादि से चली आ रही है। अनादि से जो विकार के कर्ता-कर्मपने की प्रवृत्ति है, उसका अभाव कैसे हो?—ऐसा यहाँ शिष्य ने प्रश्न किया है। श्री आचार्यदेव उसका उत्तर देते हैं कि—यह जीव जब अपने शुद्धस्वभाव को विकार से भिन्न जानता है, तब वह विकार का कर्ता नहीं होता; इसलिए विकार, आत्मा के भेदज्ञान से ही अनादिकालीन विकार के कर्ता-कर्म की प्रवृत्ति नष्ट होती है।

निमित्तादि परवस्तुओं से मैं सदैव भिन्न हूँ—इस प्रकार पर से भिन्नत्व का निर्णय करने की शक्ति भी जिसने नहीं है, उसमें विकार से भिन्नत्व का निर्णय करने की शक्ति नहीं होती। कर्म आत्मा को विकार कराते हैं—ऐसा माने, उसे तो कर्म से विकार की भिन्नता का निर्णय भी नहीं है। कर्म मुझे विकार कराते हैं अथवा पर मुझे विकार कराता है—ऐसा जो मानता है, उसे विकार से आत्मा के भिन्नत्व का निर्णय करने का अवकाश नहीं है; क्योंकि आत्मा की अवस्था में मिथ्यात्व और अज्ञान पर कराता है—ऐसा उसने माना है, इसलिए 'मैं विकार से पृथक् ज्ञानस्वरूप हूँ'—ऐसी स्वभाव की सम्यक्श्रद्धा—ज्ञान करने में उसने अपनी स्वाधीनता नहीं मानी; इससे उसे सच्ची

श्रद्धा-ज्ञान-प्रगट करने का अवकाश नहीं रहा। कर्म आदि पर मुझे विकार कराते हैं–ऐसे स्थूल अज्ञानी की तो यहाँ बात ही नहीं है। पर मुझे विकार नहीं कराता किन्तु मैं अपने अपराध से करता हूँ, वह विकार मेरा कर्म है और मैं उसका कर्ता हूँ–इस प्रकार विकार के कर्ता-कर्मपने में जिस जीव की बुद्धि लगी है, वह भी अज्ञानी है। वह अज्ञान कैसे दूर हो–उसकी यहाँ बात है।

कर्म मुझे विकार कराते हैं–ऐसी जिसकी मान्यता है, उसे तो जड़-चेतन दो द्रव्य की भिन्नता का भान नहीं है। कर्म, आत्मा को विकार नहीं कराते–इतना मान लेने के पश्चात् जो जीव शुद्ध ज्ञानस्वभाव की रुचि छोड़कर पुण्य की रुचि करता है–मैं पुण्य का कर्ता हूँ और उससे मुझे इसी समय या भविष्य में लाभ होगा–ऐसा जो मानता है–वह भी मिथ्यादृष्टि है। पुण्य से धर्म होता है अथवा पुण्य से लाभ होता है–ऐसा जो मानता है, वह जीव पुण्य को अपन कर्त्तव्य माने बिना नहीं रहेगा, ऐसे मिथ्यादृष्टि जीव की अज्ञान से उत्पन्न हुई विकार के कर्ता-कर्म की प्रवृत्ति, आत्मा और विकार के भेदज्ञान से ही दूर होती है।

(४) आत्मा और क्रोधादि का भेदज्ञान

इस जगत में वस्तु है, वह स्वभावमात्र ही है; और 'स्व' का भवन वह स्वभाव है, इसलिए निश्चय से ज्ञान का होना–परिणमित होना, वह आत्मा है और क्रोधादि का होना–परिणमित होना, वह क्रोधादि है। इस प्रकार आत्मा और क्रोधादि भावों की भिन्नता का अनुभव होने पर अनादि का अज्ञान दूर हो जाता है और अज्ञान दूर हो जाने पर 'मैं विकार का कर्ता और वह मेरा कर्म'–ऐसी अज्ञान से उत्पन्न हुई कर्ता-कर्म की प्रवृत्ति भी नष्ट हो जाती है; इससे आत्मा विकार कर्ता नहीं होता और न उसे बन्धन होता है।

यहाँ वस्तु के स्वभाव की बात है। कि-वस्तु है, वह स्वभावमात्र ही है। आत्मा वस्तु है, वह ज्ञानस्वभावमात्र ही है। अवस्था में विकार होता है, वह वास्तव में आत्मा नहीं है। दयादि व्यवहार भाव वह वास्तव में वस्तु का स्वभाव नहीं है अर्थात् वह आत्मा नहीं है। आत्मा तो ज्ञान स्वभावमात्र ही है, क्रोधादि या दयादिभाव होते हैं, वे ज्ञानस्वभाव से भिन्न हैं, इससे वे आत्मा नहीं हैं, किन्तु आत्मा से भिन्न हैं। क्रोधादि विकारी भाव जड़ की दशा में नहीं होते किन्तु आत्मा की दशा में होते हैं; स्वस्य भवनं स्वभावः अर्थात् विकारीभाव स्ववस्तु के परिणमन में होते हैं, इससे उन्हें व्यवहार से स्व-भाव कहा जाता है, परन्तु वह विकारभाव वस्तु का मूलस्वभाव नहीं है, किन्तु पर-निमित्त से होनेवाला विकार है, इससे उसे परभाव कहा जाता है। लेकिन परभाव क अर्थ ऐसा नहीं है कि – परवस्तु ने वह विकारभाव कराया है। आत्मा की अवस्था की योग्यता से विकार हुआ है।

(५) योग्यता और स्वभाव

पानी अग्नि से उष्ण नहीं होता किन्तु अपने स्पर्शगुण की उष्ण होने की योग्यता से ही वह उष्ण होता है। पानी की उष्ण पर्याय में अग्नि की पर्याय का अभाव है; उसी प्रकार विकार पर्याय में परवस्तु का अभाव है, इससे परवस्तु विकार नहीं कराती, किन्तु अवस्था में विकार होने की अपनी योग्यता से ही विकार होता है; तथापि उस विकार की योग्यता एक समयपर्यंत की है, त्रिकाली स्वभाव में उसका अभाव है। जिस प्रकार उष्णतारूप होने का पानी का स्वभाव नहीं है, शीतलतारूप हो, वही उसका स्वभाव है; उसी प्रकार चैतन्यमूर्ति आत्मा का ज्ञानस्वभावरूप परिणमित होना ही स्वभावभवन है; विकार हो, वह उसका स्वभाव नहीं है। आत्मा का स्वभाव तो ज्ञान ही है, इससे ज्ञानरूप परिणमित होना ही निश्चय से आत्मा का स्वभाव है। इससे विकार और आत्मा की स्वभाव से भिन्नता जानकर विकार हो, उसकी रुचिरूप न होना किन्तु स्वभाव की रुचि में ज्ञाता-दृष्टापने की अवस्थारूप होना, वह आत्मा का स्वभाव है; जो विकार की रुचि करे, उसके आत्मस्वभाव का अनादर है। जिसका विकाररूप परिणमन हो, उसे यहाँ आत्माा नहीं माना है, किन्तु निर्मल-भावरूप परिणमन होकर आत्मा में अभेद हो, वह आत्मा है।

(६) धर्म का प्रारम्भ

निमित्त की, व्यवहार की, या पर्याय की रुचि, वह मिथ्यात्व है। मिथ्यात्व, वह आस्रव है, वह आत्मा के ज्ञानस्वभाव से भिन्न है। आत्मा ज्ञानस्वभावी शुद्ध है–ऐसी रुचि का अन्तर में परिणमन होना ही आत्मा है। पुण्य-पापरूप परिणमन होना, वह वास्तव में अनात्मा है। वर्तमान ज्ञानदशा स्वभावोन्मुख होकर अभेद हुई, वहाँ उस द्रव्य-पर्याय की अभेदता को आत्मा कहा है, उसी का नाम सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र है। ज्ञाता की अवस्था ज्ञाता में एकमेक हुई, वह धर्म है और ज्ञाता की अवस्था विकार में एकमेक हो, वह अधर्म है। जो जिससे लाभ मानता है, उससे अपने को पृथक् नहीं मानता। जिसने विकार से आत्मा को लाभ माना है, उसने विकार से आत्मा को पृथक् नहीं किन्तु एकमेक माना है; विकार ही मैं हूँ–ऐसा माना है, इसलिए उसके विकार से भिन्नता करने की शक्ति नहीं है। प्रथम श्रद्धा में आत्मा को विकार रहित माने बिना और ज्ञान में विकार से भिन्न जाने बिना, विकार से किस प्रकार भिन्न होगा? और विकार से भिन्न हुए बिना मुक्ति कैसे होगी? इसलिए प्रथम विकार से भिन्न ज्ञानस्वभाव को पहचानकर उसकी श्रद्धा करना ही मुक्ति का प्रथम उपाय है; इसके अतिरिक्त अन्य किसी प्रकार से मुक्ति के उपाय का अर्थात् धर्म का प्रारम्भ नहीं होता।

(७) क्रोध कब दूर हो?

आत्मा को पर से, निमित्त से, पुण्य-पाप से या पर्यायबुद्धि से लाभ होता है – ऐसा मानना,

वह क्रोधादिभाव है। द्रव्यलिंगी मुनि होकर अहिंसा आदि महाव्रतों का पालन करता हो, किन्तु उस पुण्य के विकल्प से आत्मा को लाभ मानता हो तो वह आत्मा के स्वभाव पर क्रोध है। विकार की रुचि और आत्मा के स्वभाव की अरुचि ही अनन्त क्रोध है। आत्मा के ज्ञानस्वभाव को और विकार को पृथक् जानकर आत्मा की रुचि करे और विकार की रुचि छोड़े तो क्रोध दूर हो।

(८) ज्ञान और क्रोध का भेदज्ञान

यहाँ आचार्यदेव आत्मा और विकार का भिन्नत्व समझाते हैं। जहाँ ज्ञानस्वभाव की रुचिरूप परिणमन हुआ, वहाँ क्रोधादि की रुचिरूप परिणमन नहीं होता, इसलिए ज्ञान का होना, वह क्रोधादि का भी होना नहीं है और क्रोधादि विकार की रुचिरूप परिणमन हुआ, तब उन क्रोधादि से भिन्न ज्ञान अज्ञानी को भासित नहीं होता, इसलिए क्रोधादि का होना, वह ज्ञान का भी होना नहीं है। इस प्रकार ज्ञान और क्रोध भिन्न-भिन्न हैं। ज्ञान, वह आत्मा है; क्रोधादि, आत्मा नहीं है।

यदि ज्ञानस्वभाव और क्रोधादि विकारीभाव पृथक्-पृथक् न हों तो आत्मा का ज्ञान बढ़ने से क्रोधादि में भी वृद्धि होना चाहिए, तथा क्रोधादि में वृद्धि होने से ज्ञान भी बढ़ना चाहिए, परन्तु ऐसा तो नहीं होता; स्व-सन्मुख ज्ञान बढ़ने से क्रोधादि कम होते जाते हैं और क्रोधादिभावों में वृद्धि होने से ज्ञान कम होता है; इसलिए ज्ञान और क्रोध अत्यन्त भिन्न हैं। ज्ञान है, यह क्रोध नहीं है, क्रोध है, वह ज्ञान नहीं है।

(९) धर्मात्मा का कर्ता-कर्मपना और भेदज्ञान का प्रताप

मैं त्रिकाली ज्ञाता हूँ और विकार एक समयपर्यंत का है, वह मैं नहीं हूँ—इस प्रकार जिसे विकारबुद्धि दूर होकर स्वभावबुद्धि हुई है, वह धर्मी जीव ज्ञानरूप उत्पन्न होता है, वहाँ ज्ञानरूप उत्पन्न होने से उसे—'मैं स्वभाव में बढ़ रहा हूँ'—ऐसा मालूम होता है, किन्तु ऐसा मालूम नहीं होता कि—'मैं क्रोधादिरूप होता हूँ।' दूसरे प्रकार से लें तो अभेद स्वभाव-सन्मुख की दृष्टि से परिणमित होने पर—'रागादि व्यवहार, वह मेरा कार्य और मैं उसका कर्ता'—ऐसा ज्ञानी को प्रतिभासित नहीं होता। अज्ञानी को—'रागादि व्यवहार का मैं कर्ता और वह मेरा कर्म'—ऐसा अज्ञान से प्रतिभासित होता है। साधक धर्मात्मा को विकार होने पर भी—'स्वभाव-सन्मुख जो श्रद्धा-ज्ञान हुए, उनका मैं कर्ता और वह मेरा कर्म'—ऐसे अभेद कर्ता-कर्म प्रतिभासित होते हैं। किन्तु क्रोधादि मेरे कर्म और मैं उनका कर्ता—इस प्रकार उसे क्रोधादि, ज्ञान के साथ एकरूप भासित नहीं होते।—ऐसा जो ज्ञान ओर विकार का अपूर्व भेदज्ञान है, वही प्रथम धर्म है। श्री तीर्थङ्कर भगवान माता के गर्भ में आये, तभी से उन्हें ऐसा भेदज्ञान था, इस भेदज्ञान के प्रताप से ही वे केवलज्ञान और मुक्ति को प्राप्त हुए हैं।

सुख के सम्बन्ध में विचार

(श्री प्रवचनसार गाथा २२ के प्रवचन में)

ॐ

श्री देव-गुरु-शास्त्र को नमस्कार

भगवती रत्नत्रयी माता को नमस्कार

हे भाई ! तुझे सुखी तो होना है न ! तो सुख के स्वरूप के विषय में तूने कभी विचार किया है ? तू इतना विचार करके देखले कि तूने जिन-जिन पर विषयों में सुख माना है, उन-उन विषयों में आगे चलकर अन्त में क्या परिणाम आता है ?– क्या तुझे सुख मिलता है ? या उसमें अरुचि हो जाती है ? खाने-पीने आदि किसी भी विषय में अन्त में तो अरुचि ही आ जाती है, और उसे छोड़कर दूसरे विषयों की ओर उपयोग जाता है। इस प्रकार, यदि विषयों के उपभोग में अरुचि ही आ जाती है, तो तू समझ ले कि उसमें वास्तव में तेरा सुख था ही नहीं, किन्तु तूने मात्र-कल्पना से मान लिया था। यदि वास्तव में सुख हो तो उसका उपभोग करते-करते कभी किसी को अरुचि नहीं होगी। देखो ! सिद्ध भगवन्तों को आत्मा का सच्चा सुख है, तो उन्हें वह सुख भोगते-भोगते अनन्तकाल में अरुचि नहीं आती।

हे आत्मार्थी ! आत्मा के अतिरिक्त किसी भी बाह्य विषय में सुख नहीं है, – यह बात यदि तू जरा विचार करके देख तो तुझे प्रत्यक्ष अनुभवगम्य हो सकती है। जैसे कि तूने लड्डू खाने में सुख माना – एक लड्डू खाया... दो खाये... तीन खाये... चार खाये... अन्त में ऐसा लगता है कि बस, अब लड्डू खाने में सुख नहीं है। तो समझले कि अन्त में जिसमें सुख का अभाव भासित हुआ, उसमें पहले से ही सुख का अभाव है। इस प्रकार लड्डू के स्थान पर किसी भी पर विषय को लेकर विचार करने से निश्चित् होगा कि–इन विषयों में सुख नहीं है, किन्तु आत्मस्वभाव में ही सुख है।–इस स्वभाव सुख को निश्चित् करके उसका स्वीकार कर और पर विषयों में सुख बुद्धि छोड़।

जिसमें वास्तविक सुख हो, उसमें चाहे जितना आगे बढ़ने पर कभी भी अरुचि नहीं आती; स्वभाव में सुख है, तो उसमें ज्यो-ज्यों आगे बढ़ते हैं, उसी प्रकार सुख में वृद्धि होती है..... उसमें अरुचि नहीं आती। और विषय सुखों में अरुचि आये बिना नहीं रहती।

पर विषय दो प्रकार के है – शुभ, अशुभ। पापभाव में तो अरुचि आती ही है, किन्तु मन्दिर, भक्ति, दया आदि शुभभावों में भी बढ़ते-बढ़ते अन्त में थक जाता है, और वहाँ से हटने

का मन हो जाता है। यदि उस शुभ में सुख हो तो वहाँ से हट जाने की इच्छा क्यों हो? अज्ञानी जीव शुभ से हटकर शुद्ध में नहीं जाता, किन्तु शुभ से हटकर पुनः अशुभ में जाता है, इससे पर की ओर के विषय में रहकर शुभ और अशुभ में ही बदलता है; लेकिन, 'अभी तक परोन्मुखता में रहा, तथापि कहीं से सुख अनुभव में नहीं आया, इसलिए परोन्मुखता में सुख नहीं है, यानी इन्द्रिय-विषयों में सुख नहीं है, किन्तु स्व के ओर अन्तर्मुख' अवलोकन में ही सुख है—अतीन्द्रियज्ञान में ही सुख है'—ऐसा निर्णय करके यदि स्वोन्मुख हो तो सिद्ध भगवान जैसे आत्मा के सुख का अनुभव प्रगट हो और पर विषयों में से रुचि दूर हो जाये। इस दशा का नाम धर्म है।

हे भाई! अन्त में—अधिक समय पश्चात् भी तुझे विषयों में (—शुभ या अशुभ में) अरुचि हो जाती है और उनमें सुख का अस्वीकार करना पड़ता है, तो वर्तमान में ही स्वभाव के सुख का स्वीकार करके विषयों में सुख का अस्वीकार का न! विषयों के लक्ष्य से विषय सुख का अस्वीकार करता है, इससे वह अस्वीकृति स्थिर नहीं रहती, और फिर दूसरे इन्द्रिय विषयों में ही लीन हो जाता है। यदि स्वभाव के अतीन्द्रियसुख का रुचिपूर्वक स्वीकार करके उस विषय सुख का अस्वीकार करेगा, तो स्वीकृति और अस्वीकृति—दोनों यथार्थ बनी रहेंगी, और आगे चलकर पूर्ण अतीन्द्रिय केवलसुख प्रगट होगा। इस प्रकार आत्मार्थी को पहले से ही स्वलक्ष्य से इन्द्रियोन्मुखता में से आदरबुद्धि दूर हो जाना चाहिए और अतीन्द्रियसुख की परम आदरपूर्वक श्रद्धा होना चाहिए,—यही अतीन्द्रियसुख प्रगट होने का उपाय है।

समयसार में देशनालब्धि
तथा
निमित्त की सापेक्षता और निरपेक्षता के सम्बन्ध में अनेकान्त

[श्री समयसार गाथा ४ पर पूज्य स्वामीजी के प्रवचन से]

–: वीर सं० २४७६, अषाढ़ शुक्ला २ :–

पर से भिन्न आत्मा के एकत्व की दुर्लभता का वर्णन करते हुए श्री समयसार गाथा ४ की टीका में आचार्यदेव कहते हैं कि–'जीव को अपने में अनात्मज्ञपना है और दूसरे आत्मा को जाननेवालो की संगति-सेवा-उपासना नहीं की है इससे, (भिन्न आत्मा का एकत्व) न पहले कभी सुना है, न कभी परिचय में आया है, और न कभी अनुभव में आया है। इससे भिन्न आत्मा का एकत्व सुलभ नहीं है।'

यहाँ, 'आत्मा को जाननेवालों की संगति-सेवा-उपासना पहले कभी नहीं की'–ऐसा कहकर श्री आचार्यदेव ने देशनालब्धि सिद्ध की है, और वह देशनालब्धि ज्ञानी के पास से ही होती है–यह भी बतलाया है। ज्ञानी की सेवा–उपासना करने की बात ली, उसमें देशनालब्धि आ जाती है। अज्ञानी के उपदेश से भी यह देशनालब्धि हो जाती हो तो 'आत्म-ज्ञानी की सेवा' की बात आचार्यदेव किसलिए करें? यहाँ अनादि अज्ञानी को ज्ञानी बनने की बात ली है, इससे देशनालब्धि ज्ञानी के पास से ही होती है–यह बात रखी है।

जीव को देशनालब्धि होने में ज्ञानी का उपदेश ही निमित्तरूप में होता है–ऐसा समझने से कहीं निमित्ताधीन दृष्टि नहीं हो जाती, किन्तु निमित्त-नैमित्ति सम्बन्ध का यथार्थ ज्ञान होता है।

– श्री आचार्यदेव के इस कथन पर से निमित्ताधीन दृष्टिवाले ऐसा उलटा अर्थ निकालते हैं कि – 'आत्मज्ञानी की सेवा नहीं की इससे....' ऐसा आचार्यदेव ने कहा है, इसलिए निमित्त की उपेक्षा नहीं करना चाहिए। लेकिन वास्तव में तो वहाँ श्री आचार्यदेव का ऐसा आशय है कि यदि तू निमित्त की उपेक्षा करके स्वलक्ष्य की ओर ढ़ल, तभी तूने एकत्व स्वभाव की बात सुनी है और ज्ञानी की सेवा की है–ऐसा कहा जायेगा, तथा तभी ज्ञानी का उपदेश तुझे निमित्त कहलायेगा। परन्तु, ज्ञानी ने एकत्व आत्मा लक्ष्य करने को कहा है–वैसा लक्ष्य यदि स्वयं प्रगट न किया तो निमित्त और नैमित्तिक का मेल नहीं हुआ, इसलिए वहाँ तो 'ज्ञानी का उपदेश सुना'–ऐसा भी नहीं कहलाया। ज्ञानी की सेवा वास्तव में तभी की कहलाती है, कि जब वह निमित्त का लक्ष्य छोड़कर स्वलक्ष्य करे।

यहाँ आचार्यदेव ने ज्ञानी की सेवा करने को कहा, उसमें पराङ्मुख बुद्धि की अर्थात् निमित्त की उपेक्षा करके रुकने की बात नहीं है, किन्तु निमित्त का लक्ष्य छोड़कर स्व-सन्मुख लक्ष्य किया, वही ज्ञानी की सेवा है, और वही एकत्व आत्मा का श्रवण है। पूर्व अनन्तबार अकेले निमित्त के ही लक्ष्य से रुककर ज्ञानी के पास से श्रवण किया, किन्तु निमित्त की उपेक्षा करके स्वभावोन्मुख नहीं हुआ, इससे उस श्रवण को यथार्थ श्रवणरूप से स्वीकार नहीं किया गया है। शुभराग से ज्ञानी की सेवा की किन्तु स्वलक्ष्य नहीं किया – ज्ञानी के कथन के आशय को अपने ज्ञान में ग्रहण नहीं किया – तो उसे यहाँ ज्ञानी की सेवा की नहीं कहते; और इससे उसने आत्मा का श्रवण भी नहीं किया है।

●●●

चौथी गाथा में श्री आचार्यदेव कहते हैं कि ज्ञानी की सेवा नहीं की, इससे भिन्न आत्मा की बात जीव ने कभी नहीं सुनी है।–ऐसा कहकर श्री आचार्यदेव ज्ञानी की सेवा की सापेक्षता बतलाना चाहते हैं; इसलिए, ज्ञानी के पास से ही देशनालब्धि प्राप्त हुए बिना कोई जीव ज्ञान प्राप्त नहीं कर सकता–ऐसी निमित्त की सापेक्षता रखी है; परन्तु साथ ही साथ निमित्त की निरपेक्षता भी बतलाते हैं कि यदि तू निमित्त का लक्ष्य छोड़कर स्वोन्मुख हो और आत्मा का समझ, तभी तूने ज्ञानी की बात सुनी है–ऐसा कहा जाये। पूर्व अकेले निमित्त के लक्ष्य से ही सुना किन्तु स्वभावोन्मुख नहीं हुआ, इससे उस श्रवण को आचार्यदेव ने यथार्थ श्रवणरूप से स्वीकार नहीं किया। इस प्रकार निमित्त की उपेक्षा करके स्वभावोन्मुख नहीं हुआ–उसके लिए तो ज्ञानी की वाणी निमित्त भी नहीं कहलायी। जब निमित्त की अपेक्षा छोड़कर निरपेक्ष स्वभाव की ओर उन्मुख हुआ, तभी निमित्त को यथार्थ निमित्त कहा गया, और तभी 'जीव ने ज्ञानी के पास आत्मा की बात सुनी'–ऐसा कहा गया। यानी निमित्त की निरपेक्षता हुई, तब निमित्त की सापेक्षता लागू हुई। परन्तु, 'आचार्यदेव ने यहाँ ज्ञानी की सेवा की बात कही है, इसलिए अपने को निमित्त की उपेक्षा नहीं करना चाहिए'– ऐसा मानकर कोई अकेली सापेक्षता को ही पकड़े और निमित्त की निरपेक्षता न करे तो वह अज्ञानी ही रहता है और उसे निमित्त को सापेक्षता भी लागू नहीं होती। हे जीव! आत्मा को समझने में ज्ञानी की देशना ही निमित्तरूप होती है, यह सच है, परन्तु निमित्त से निरपेक्ष होकर यदि स्वभाव को न समझा तो तेरे लिए ज्ञानी निमित्त भी नहीं कहलाते; क्योंकि ज्ञानी की वाणी तो निमित्त आदि पर का आश्रय छोड़कर अभेद स्वभाव की ओर उन्मुख होने को कहती है। उसके बदले यदि तू निमित्त का लक्ष्य करके ही रुक गया तो तुझे ज्ञानी की वाणी धर्म का निमित्त नहीं हुई। उपादान जागृत हुए बिना निमित्त किसका? निमित्त से निरपेक्षतारूप निश्चयभाव प्रगट हुए बिना निमित्त की

सापेक्षता रूप व्यवहार किये लागू पाड़ा जाये? निमित्त का ऐसा अनेकान्त है कि निमित्त से निरपेक्ष हो, तब उसको सापेक्षता लागू होती है। इसके बदले कोई जीव निमित्त की अकेली सापेक्षता को ही माने परन्तु निमित्त से निरपेक्षता न माने तो उसकी मान्यता एकान्तरूप है।

इस चौथी गाथा में –'जीव को अपने में अनात्मपना है और दूसरे आत्मा के जाननेवालों की संगति-सेवा-उपासना नहीं की है, इससे (भिन्न आत्मा का एकत्व) न पहले कभी सुनने में आया, न कभी परिचय में आया, और न कभी अनुभव में आया। इससे भिन्न आत्मा का एकत्व सुलभ नहीं है;'–ऐसा कहकर श्री आचार्यदेव ने ज्ञानी की सेवारूप निमित्त का कथंचित् सापेक्षपना बतलाया है; और साथ ही साथ देशनालब्धि भी सिद्ध की है। परन्तु श्री आचार्यदेव के आशय को न समझनेवाले अज्ञानी इस गाथा में से अकेला निमित्त की सापेक्षता का ही अर्थ निकालते हैं, और निमित्त की निरपेक्षता की जो बात श्री आचार्यदेव ने बतलायी है, उसे छोड़ देते हैं। निमित्त की निरपेक्षता की बात निमित्ताधीन दृष्टिवाले को नहीं जमती। श्री आचार्यदेव ने इस गाथा में तो निमित्त की सापेक्षता और निरपेक्षता–दोनों को बतलाया है; और 'निमित्त से निरपेक्षता प्रगट करे, तब उसकी सापेक्षता लागू होती है–ऐसा महा-सिद्धान्त रख दिया है। साक्षात् तीर्थङ्कर भगवान के समवशरण में जाकर उनकी वाणी पहले सुनी है, तथापि आचार्यदेव तो कहते हैं कि–'पर से भिन्न आत्मा की बात कभी नहीं सुनी है'–इसका क्या अर्थ? इसका आशय यह है कि अनन्तबार निमित्त मिलने पर भी स्वयं उससे निरपेक्षता प्रगट नहीं की और आत्मस्वभाव को नहीं समझा, इससे उसको वह श्रवण निमित्त भी नहीं हुआ। इसलिए उसने 'आत्मस्वभाव की बात कभी सुनी ही नहीं है'–ऐसा आचार्यदेव ने कहा है। इस कथन में से ही, निमित्त की उपेक्षा करके स्वभावोन्मुख होने के लिए आचार्यदेव कहते हैं–ऐसा आशय निकलता है।'

यहाँ आचार्यदेव ने ज्ञानी को और ज्ञानी की वाणी को धर्म के निमित्तरूप से स्वीकार किया है, मात्र राग के निमित्तरूप से स्वीकार नहीं किया है। इससे जिसने स्वभाव-सन्मुख होकर अपने में धर्मभाव प्रगट नहीं किया, उसे निमित्त के साथ नैमित्तिक भाव का मेल नहीं हुआ, इसलिए निमित्त को निमित्त भी नहीं कहा गया।

गृहस्थों का धर्म

(श्री पद्मनन्दि पंचविशति के उपासक संस्कार अधिकार पर पूज्य श्री कानजी स्वामी के प्रवचनों का संक्षिप्तसार श्लोक नं० १ से ६, वी सं० २४७६ भाद्रपद वदी १२)

पद्मनन्दि आचार्य दिगम्बर सन्त मुनि थे, उन्होंने वन में इस शास्त्र की रचना की है; इसमें श्रावक के धर्म का वर्णन किया है। गृहस्थ को राग रहित धर्म के संस्कार कैसे होते हैं और शुभराग की भूमिका कैसी होती है – उसका इसमें वर्णन है।

इस चौबीसी में सर्व प्रथम श्री ऋषभदेव भगवान ने चारित्रधर्म अंगीकार करके 'व्रततीर्थ' चलाया, और उन्हें सर्व प्रथम विधिपूर्वक आत्मज्ञान सहित आहार दान देकर श्री श्रेयांसकुमार ने 'दानतीर्थ' का प्रवर्तन किया।–इससे उन दोनों महात्माओं का इस अधिकार के प्रारम्भ में मंगलरूप से स्मरण किया है। यह दोनों महात्मा उसी भव में मोक्ष को प्राप्त हुए हैं।

दूसरे श्लोक में धर्म का स्वरूप बतलाया है; सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की एकता धर्म है।– वही मोक्षमार्ग है। वह मोक्षमार्ग पूर्णतया तो मुनिवरों के होता है। गृहस्थों के चारित्र सहित पूर्ण मोक्षमार्ग नहीं होता, तथापि उन्हें भी सम्यग्दर्शन-ज्ञान सहित अंशतः चारित्ररूप एक देश मोक्षमार्ग होता है; इससे गृहस्थ को भी धर्म होता है। व्यापार धन्धे में पड़े हुए गृहस्थ को बिल्कुल धर्म हो ही नहीं सकता–ऐसा नहीं है। इस बात का खास ध्यान रखना कि–गृहस्थ को जो शुभराग होता है, वह कहीं धर्म नहीं है; धर्म तो सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र ही है, इससे गृहस्थ को भी राग-रहित सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र के जितने अंश हैं, वही धर्म है, जो राग है, वह धर्म नहीं है। गृहस्थदशा में धर्मी को जिनेन्द्रदेव की पूजा, मुनि आदि की भक्ति, शास्त्रस्वाध्याय, संयम, तप और दानादि के शुभभाव आये बिना नहीं रहते–इससे उन्हें भी उपचार से गृहस्थ का धर्म कहा जाता है; लेकिन वास्तव में उनमें जो राग है, वह धर्म नहीं है। सच्चा गृहस्थ का धर्म तो उसे जो सम्यग्दर्शन, ज्ञान तथा अंशतः वीतरागता है–वही है। सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र को ही मोक्षमार्ग जानकर, वैसे मोक्षमार्ग में जो गमन नहीं करते और राग को धर्म मानते हैं–वैसे जीवों को संसार ही दीर्घ होता है, उनके लिए मोक्ष बहुत ही दूर है। और जो जीव, राग को मोक्षमार्गरूप से नहीं मानते, रागरहित शुद्धात्मस्वभाव की श्रद्धा, ज्ञान, चारित्र को ही मोक्षमार्ग जानकर उसमें वर्तते हैं–उन्हें मोक्ष अत्यन्त निकट है और संसार का अन्त आने की तैयारी है। सम्यग्दृष्टि गृहस्थ हो तो वह भी मोक्ष-मार्ग में चलनेवाला है, उसे मोक्षमार्ग निकट वर्त रहा है।

जैसा सम्यग्दर्शन मुनिवरों को होता है, वैसा ही श्रावकों को भी होता है। उनके सम्यग्दर्शन धर्म में अन्तर नहीं है। मुनि को चारित्रदशा का वीतरागभाव अधिक प्रगट हुआ है और गृहस्थ को वैसा वीतरागभाव प्रगट नहीं हुआ है—इस प्रकार चारित्र की अपेक्षा से दोनों को अन्तर है; लेकिन उससे ऐसा नहीं मानना चाहिए कि श्रावक के जो राग है, वह धर्म है, श्रावक के भी जो राग है, वह धर्म नहीं है, किन्तु सम्यक्श्रद्धा, सम्यग्ज्ञान और जितने अंश में वीतरागभाव है, वही धर्म है। गृहस्थ को व्यापार-धन्धा, भोजन, स्त्री आदि का संयोग बाह्य में दिखलायी देता हो और उस ओर का राग भी हो तथापि, धर्मी को अन्तर में उसकी रुचि नहीं है। जिसे अन्तर में चैतन्यद्रव्य का भान वर्तता है—उसे भी धर्म होता है। इसलिए 'गृहस्थों को धर्म कैसे हो सकता है, त्यागी होने के पश्चात् ही धर्म होता है—ऐसी शंका नहीं करना चाहिए। गृहस्थ हो तो वह अधर्मी ही होता है—ऐसा नहीं है, और घर बार छोड़कर त्यागी हो गया, इससे वह धर्मी हो गया—ऐसा भी नहीं है। जिसे अन्तर में चैतन्यतत्त्व का भान है, वह भले ही गृहस्थपने में हो, तथापि वह धर्मी है और जिसे अन्तर में चैतन्यतत्त्व का भान नहीं है, तथा व्रतादि के शुभराग से धर्म मानता है, वह त्यागी हो, तथापि धर्मी नहीं किन्तु अधर्मी ही है।

इस काल में धर्मी गृहस्थ धर्म के कारण है; धर्मी गृहस्थ जिन-मन्दिरों की स्थापना करते हैं और जहाँ जिन-मन्दिर हों, वहाँ मुनि आकर वास करते हैं; तथा मुनिओं को आहारदान देकर श्रावकलोक उन्हें धर्मसाधना में स्थित करते हैं। इस प्रकार वीतरागी देव-गुरु के भक्त गृहस्थ भी निमित्तरूप से धर्म के कारण हैं।

इस प्रकार आत्मभान सहित श्रावक धर्म भी उत्तम है। इसलिए गृहस्थपने में स्थित जीवों को अपनी भूमिका के अनुसार सम्यग्दर्शन-ज्ञान सहित राग की मन्दता करके गृहस्थधर्म को दीप्त करना चाहिए।

जिज्ञासु शिष्य को श्रीगुरु भव-भ्रमण के अन्त का उपाय समझाते हैं।

(वीर सं० २४७६ के आषाढ़ कृष्णा ४-५ के दिन श्री समयसार गाथा ४' पर कुण्डला में पूज्य गुरुदेवश्री के प्रवचन से)

(१) भव-भ्रमण के अन्त के लिए जिज्ञासु शिष्य की आतुरता

चैतन्य का पथ अनन्तकाल से अजान है, जगत के जीवों ने उसे नहीं जाना है। चैतन्य को जानने के लिए पात्र शिष्य प्रश्न करता है कि हे भगवान! यह आत्मा क्या वस्तु है? आत्मा का सच्चा स्वरूप क्या है? देहादि से एवं राग से पार आत्मा क्या वस्तु है कि जिसे जानलेने से हमें शान्ति हो? हे नाथ! आत्मा का यथार्थ स्वरूप समझे बिना मैं अनादिकाल से भव-भ्रमण में भटक रहा हूँ; अब आत्मा का यथार्थस्वरूप समझाइये कि जिसे समझने से आत्मा का अनुभव हो, अन्तर की शान्ति और आनन्द प्राप्त हो, और इस भवभ्रमण का अन्त आ जाये।–इस प्रकार शिष्य ने जिज्ञासापूर्वक प्रश्न किया; उसे श्री आचार्यदेव उत्तर देते हैं कि–

(२) भव-भ्रमण का अन्त कैसे आये? वह बात आचार्यदेव समझाते हैं।

चैतन्यमूर्ति भगवान आत्मा, पुद्गल के द्रव्य-गुण से भिन्न है तथा पुद्गल की पर्यायों से भी भिन्न है; इससे वह जड़ इन्द्रियों द्वारा नहीं जानता किन्तु ज्ञानस्वभाव से ही जानता है। इस ज्ञान लक्षण द्वारा आत्मा को पहचानना चाहिए। सत्समागम से आत्मा की पहचान करने पर सिद्ध भगवान जैसा अंशतः अनुभव हो, उसे सम्यग्दर्शन कहते हैं, वह धर्म की प्रथम भूमिका है, और वही भावभ्रमण के अन्त का मूल है। वह सम्यग्दर्शन कैसे प्रगट हो–उसकी यह बात चलती है।

सम्यग्दर्शन का अर्थ है सत्य का स्वीकार; आत्मा को उसके पूर्ण-स्वरूप से स्वीकार करे तो सम्यग्दर्शन होता है, किन्तु अपूर्ण या पराश्रयवाला ही माने तो कभी अज्ञान दूर नहीं होता। आत्मा में त्रिकाल चेतना गुण है, अजीव पदार्थों में कभी चेतना नहीं है। जीव और अजीव त्रिकाल भिन्न हैं, कभी एक नहीं होते। आत्मा का ज्ञान इन्द्रियों के आधार से नहीं होता, किन्तु अखण्ड ज्ञानस्वभाव के ही आधार से होता है, परन्तु मैं–आत्मा जड़ जीव्हा द्वारा रस का स्वाद लेता हूँ–ऐसा अज्ञानी को भ्रम हो गया है। रस अजीव है और जीव्हा भी अजीव है; उस रस की अवस्था को आत्मा जीव्हा द्वारा नहीं जानता क्योंकि आत्मा जड़ इन्द्रियों का स्वामी नहीं है और आत्मा का ज्ञान इन्द्रियाधीन नहीं है। यहाँ आत्मा का ज्ञानस्वभाव बतलाना है। ज्ञानस्वभावी आत्मा अपने ज्ञान

का आधार छोड़कर इन्द्रियों के ओर की उन्मुखता से पर को ही जाने–ऐसा उसका स्वभाव नहीं है; किन्तु स्वभाव-सन्मुख रहकर–परसन्मुख हुए बिना, ज्ञान में पर ज्ञात हो जाता है–ऐसा उसका स्वभाव है। ऐसे ज्ञानस्वभाव का विश्वासा करे तो अन्तर में शान्ति प्रगट हो और भवभ्रमण का अन्त आये।

(३) निजानन्द का अनुभव प्रगट करने की रीति

सिद्ध भगवान जैसा पूर्ण-आनन्द आत्मा में शक्तिरूप से भरा है, उसका प्रगट अनुभव किस प्रकार हो–उसकी यह बात है। सम्यग्दर्शन का अर्थ है, धर्म की पहली कला; वह सम्यग्दर्शन प्रगट होने से अमृतस्वरूप आत्मा का भान हो जाता है और मैं जड़ इन्द्रियों से काम लूँ–ऐसी दृष्टि उस धर्मात्मा के मिट जाती है। मैं जीव्हा का स्वामी हूँ, जीभ द्वारा मुझे रस का ज्ञान होता है–ऐसा जो मानता है, उसे भगवान, मिथ्यादृष्टि–मूढ़ कहते हैं। जड़-इन्द्रियों से आत्मा जानता है–ऐसा जिसने माना, उसने जड़ के साथ आत्मा को एकमेक माना है, किन्तु जड़ से भिन्न ज्ञानस्वभावी आत्मा को नहीं माना, उसका नाम मिथ्यात्व है। इन्द्रियाँ तो जड़-रूपी हैं; अरूपी चैतन्य आत्मा उनसे भिन्न है। जिसे आत्मा का अपूर्व सम्यग्दर्शन और निजानन्द का अनुभव प्रगट करना हो, उसे ऐसा समझना चाहिए कि–मैं चैतन्यमूर्ति आत्मा, जीभ के अवलम्बन से रस को नहीं जानता, आँख के अवलम्बन से रूप को नहीं जानता, नाक के अवलम्बन से गन्ध को नहीं जानता, कान के अवलम्बन से शब्द को नहीं जानता, तथा स्पर्शेन्द्रिय के अवलम्बन से स्पर्श को नहीं जानता; इस प्रकार किन्हीं इन्द्रियों के अवलम्बन से रस आदि को नहीं जानता और राग के अवलम्बन से भी मैं नहीं जानता हूँ। मेरा ज्ञानस्वभाव पाँच इन्द्रियों और राग से भिन्न है, उस ज्ञानस्वभाव के सन्मुख होकर जानने से इन्द्रियों के अवलम्बन बिना रस आदि ज्ञान में ज्ञात हो जाते हैं। ज्ञान में स्वभावसन्मुखता बढ़ने से परसन्मुखता दूर होती जाती है; ज्यों-ज्यों ज्ञान बढ़ता है, त्यों-त्यों परसन्मुखता दूर होती जाती है, इसलिए आत्मा पर के अवलम्बन से नहीं जानता। – ऐसा जानकर आत्मा के ज्ञानस्वभाव सन्मुख होने से निजानन्द का अनुभव प्रगट होता है, और भव-भ्रमण का अन्त आता है। अरूपी आत्मा, रूपी इन्द्रियों द्वारा जानता है–ऐसा माननेवाला आत्मा के स्वतन्त्र ज्ञानस्वभाव का घात करनेवाला मिथ्यादृष्टि है, वह अनन्त भव-भ्रमण में भटकता है।

जड़-इन्द्रियों से आत्मा पृथक् है। न तो शब्दों द्वारा आत्मा जानता है और न वह शब्दों को करता है। जीव्हा को मोड़ने की क्रिया आत्मा की नहीं हैं, किन्तु जड़ की है; वह क्रिया होनी हो तो उसके अपने कारण होती है; तथापि अज्ञानी मानता है कि मैं उस अवस्था का कर्ता हूँ, मेरा ज्ञान है, इससे वह अवस्था होती है। इस विपरीत मान्यता से ज्ञानस्वभावी आत्मा उसके लक्ष्य में नहीं आता।

(४) महान पाप का स्वरूप

स्वभावसन्मुख चैतन्य की अवस्था स्व को जानते हुए पर को जान लेती है, परन्तु उस पर के कारण उसका ज्ञान नहीं होता। रस के ज्ञान के समय सामने रस निमित्तरूप से होता है, तथा अपूर्ण ज्ञान में इन्द्रियाँ निमित्तरूप होती हैं, परन्तु यदि स्वभाव की सन्मुखता छोड़कर अकेली इन्द्रियों के अवलम्बन से ही जाने और मैं रस के अवलम्बन से जानता हूँ—ऐसा माने तो उसका ज्ञान मिथ्या है, और उस विपरीत मान्यता में त्रिकाली सत्य के अनादर का अनन्तगुना पाप है।

पाप, आत्मा की अरूपी अवस्था में है। शरीर द्वारा परजीव को मारने की क्रिया होती हो उसी को अज्ञानी पापरूप से देखता है, किन्तु परजीव मरा उसमें या देह की क्रिया में पाप नहीं रहता, पाप तो आत्मा की विकारी दशा है, वह आत्मा से बाहर नहीं होती। बाह्य मैं जीव को मारने की क्रिया दिखायी न देती हो लेकिन अन्तर में विपरीत श्रद्धा के सेवनरूप महान पाप का सेवन होता है—उस पाप को अज्ञानी नहीं जानता। सर्वज्ञ भगवान कहते हैं कि तू अपने ज्ञान से ही जानता है; पर से नहीं जानता; तथापि सर्वज्ञ भगवान का अनादर करके और अपने सत्य ज्ञान स्वभाव का अनादर करके 'मैं पर से जान के का कार्य करता हूँ'—ऐसा जीव मानता है, वही महान पाप है। निचलीदशा में राग हो, वह अलग बात है और उस राग को धर्म मानना, वह अलग बात है। धर्मी गृहस्थों को राग तो होता है, परन्तु वे राग से धर्म नहीं मानते, रागरहित ज्ञानस्वभाव का उन्हें भान है—वही धर्म है। राग हो, वह अल्प दोष है और राग को धर्म मानना, वह महान दोष है। आत्मा को किस स्वरूप से समझे तो वह महान दोष दूर हो? उसकी बात चल रही है।

(५) जड़ से भिन्न चैतन्यस्वभाव

जीव ने अपने यथार्थ स्वरूप को कभी नहीं जाना, और संयोगी भावों को ही अपना स्वरूप मान लिया। त्रिलोकीनाथ सर्वज्ञदेव ने केवलज्ञान से देखी हुई जड़-चेतन पदार्थों की पृथक्-पृथक् ऋद्धि क्या है? जड़-चेतन का भिन्न-भिन्न स्वभाव क्या है?—उसे जानने की कभी दरकार नहीं करता। संसार की रुचिवाला जीव बाप-दादा की पूँजी देखने के लिए बही-खातों को देखता है, लेकिन आत्मा की रुचि प्रगट करके सर्वज्ञ-सन्तों ने जिस प्रकार जड़-चेतन की पृथक्-पृथक् शक्ति का वर्णन किया है उसे जानने की दरकार नहीं करता। भगवान सर्वज्ञदेव और ज्ञानी कहते हैं कि भाई! तेरा आत्मा ज्ञानस्वभावी है, राग भी तेरे स्वभाव में नहीं है और जड़ इन्द्रियों से तेरे ज्ञान की उत्पत्ति नहीं होती। जड़ इन्द्रियों से आत्मा भिन्न है, इसलिए इन्द्रियों द्वारा आत्मा रस का स्वाद नहीं लेता, इससे वह अरस है। ऐसे स्वरूप से जो आत्मा को नहीं मानता और इन्द्रियों द्वारा ज्ञान होना मानता है, उसे चैतन्य की ओर उन्मुख होने की श्रद्धा नहीं होती, इससे उसे आत्मा की

शान्ति प्रगट नहीं होती। प्रथम तो चैतन्यस्वभाव जैसा है, वैसा श्रद्धा में लेने की बात है।

जिस प्रकार सोना स्थायी रहकर उसमें उसकी अवस्थाएँ होती हैं, हथौड़ी आदि में से सोने की अवस्थाएँ नहीं आती; किन्तु सोने में से ही आती हैं; उसी प्रकार जीव और अजीव प्रत्येक पदार्थ स्थायी रहकर उनमें उनकी अवस्थाएँ होती रहती हैं। जीव और अजीव दोनों द्रव्य भिन्न हैं और उनकी अवस्थाएँ भी भिन्न-भिन्न होती हैं। जीव में जानने का स्वभाव त्रिकाल है, उसमें से जानने की अवस्था होती है। जानने की अवस्था इन्द्रिय आदि परपदार्थ में से या राग में से नहीं आती, किन्तु ज्ञानस्वभाव में से ही आती है। आत्मा, इन्द्रियों द्वारा या राग द्वारा नहीं जानता, परन्तु अपनी ज्ञानपर्याय से जानता है।

(६) मूढ़ जीव को समझाते हैं कि आत्मा आँख से नहीं जानता किन्तु ज्ञान से ही जानता है।

आँख द्वारा आत्मा पुस्तक को नहीं देखता किन्तु अपने ज्ञान द्वारा ही जानता है। आँख जड़-पुद्गल की रचना है, वह अचेतन है, उस अचेतन आँख द्वारा आत्मा ज्ञान नहीं करता, और न उस अचेतन आँख के ऊँची-नीची होने की क्रिया चैतन्य के आधार से होती है। आँख की क्रिया भिन्न है और ज्ञान की क्रिया भिन्न है। ज्ञान आँख के आधार से जानने की क्रिया नहीं करता, किन्तु अपने ज्ञान के आधार से ही जानता है। अपनी वर्तमान ज्ञानदशा स्वतन्त्ररूप से क्या कार्य कर रही है–उसका जिसे भान नहीं है, उसे त्रिकाली चैतन्य का अनुभव होकर सम्यग्दर्शन नहीं होता। अपने ज्ञान को स्वतन्त्र न मानकर, मैं 'पर के अवलम्बन से जानता हूँ' –ऐसा जो मानता है, उसने आत्मा को इन्द्रियों से पृथक् नहीं जाना। वैसे मूढ़ जीव को यहाँ समझाते हैं कि–आत्मा रस, रूप रहित है, वह जड़ इन्द्रियों द्वारा नहीं जानता। आत्मा, इन्द्रियों द्वारा नहीं जानता, इससे आत्मा अरस है–ऐसा समझने से, इन्द्रियों की सन्मुखता से विमुख होकर जो ज्ञान अपने आत्म-स्वभाव सन्मुख हो, उसने वास्तव में आत्मा को अरस जाना कहा जाता है। आत्मा इन्द्रियों से नहीं जानता–ऐसा समझने से ज्ञान अपने अतीन्द्रिय आत्मस्वभाव की ओर उन्मुख होता है।

(७) नाक द्वारा गन्ध को जानता है – ऐसा मानना अधर्म है।

आत्मा नाक के अवलम्बन से गन्ध नहीं लेता, किन्तु अपने चैतन्य के अवलम्बन से ही गन्ध का ज्ञान करता है। उसके बदले नाक द्वारा गन्ध का ज्ञान होना मानना–वह दो पदार्थों में एकत्व की मिथ्याबुद्धि है। अज्ञानी भी नाक द्वारा नहीं जानता किन्तु मैं नाक द्वारा गन्ध को जानता हूँ–ऐसा वह भ्रम से मानता है, इससे वह अपने ज्ञान को इन्द्रियों की ओर से हटाकर स्वभावोन्मुख नहीं करता, यही अधर्म है। मैं इन्द्रियों से नहीं जानता –ऐसा समझकर अपने ज्ञान को स्वोन्मुख करके आत्मा में अभेद करना, वह धर्म है।

(८) स्व जीव की हिंसा का महापाप

उपरान्त, नाक की भाँति स्पर्शेन्द्रिय द्वारा आत्मा पदार्थों के स्पर्श को नहीं जानता, आत्मा के स्वभाव में स्पर्श नहीं है, स्पर्श से आत्मा पृथक् है। मुझे स्पर्शेन्द्रिय के द्वारा शीत-उष्ण का ज्ञान होता है—ऐसा जिसने माना, उसने अपने ज्ञान को त्रिकाली शक्ति में से आता हुआ नहीं माना, परन्तु इन्द्रियों में से आता हुआ माना। त्रिकाली सामान्य ज्ञान में से ही विशेष कार्य प्रगट होता है—वैसा नहीं माना, उसने चैतन्य के जीवन घात किया है, वह चैतन्य घातकी है,—इसका नाम जीव हिंसा है और यही महान पाप है। आत्मा के यथार्थस्वभाव को समझे बिना पुण्य और पाप करके आत्मा ने अनन्तबार चारों गतियों के भव धारण किये हैं, लेकिन पुण्य-पाप दोनों से रहित ज्ञानस्वभावी त्रिकाल स्वरूप शुद्ध है, उसका भान कभी नहीं किया। यदि उसका भान करे तो अल्पकाल में भव-भ्रमण का नाश हुए बिना न रहे।

(९) बाह्य सामग्री या बाह्य त्याग से पुण्य-पाप नहीं होते किन्तु अन्तरंग परिणामों से ही होते हैं

धर्म कैसे होता है—इस बात की तो लोगों को खबर नहीं है, लेकिन पुण्य-पाप कैसे होते हैं—इसकी भी खबर नहीं है। बाह्य संयोगों से और बाह्य में लेने-देने की क्रिया से पुण्य-पाप मानते हैं, किन्तु बाह्य संयोगों से पुण्य-पाप नहीं है; पुण्य-पाप तो आत्मा के अन्तरंग शुभ-अशुभ परिणामों से है। देखो, अनादिकाल से एकेन्द्रिय में रहनेवाले जीव को किसी समय ऐसा शुभभाव होता है कि वहाँ से निकलकर सीधा राजा के यहाँ अवतार लेता है। उसके पास कहाँ पैसा या आहार था? उस जीव को अन्तर में कुछ शुभपरिणाम हुए थे, इससे वह मनुष्य हुआ।

अनन्तकाल से आत्मा को जाने बिना एकेन्द्रिय में भी ऐसे पुण्य किए कि एक मिनट में अरबों की आमदनीवाला राजा हो। वहाँ बाह्य सामग्री नहीं है, किन्तु अन्तर के परिणाम में स्वयं स्वतन्त्ररूप से शुभभाव करता है। संसार में जीव का अनन्तकाल निगोद में जाता है, निगोद में से निकलकर अनन्तकाल में मनुष्य भव प्राप्त करता है।—ऐसा दुर्लभ मनुष्यभव प्राप्त करके यदि जीवतत्त्व की आराधना न करे तो पुनः एकेन्द्रिय में जाता है। सत्य-स्वभाव की आराधना का फल सिद्धदशा है और विराधना का फल निगोददशा है। वहाँ निगोद में एकेन्द्रिय को भी शुभभाव होते हैं। वहाँ पुण्य-भाव का साधन क्या है? बाह्य साधन कुछ भी नहीं है, किन्तु अन्तर में वीर्यबल को तीव्र संक्लेशभाव में न लगाकर कुछ मन्दराग किया, इससे पुण्य हुआ। इसलिए बाह्य सामग्री से आत्मा को पुण्य-पाप नहीं होते।

और यदि बाह्य त्याग से पुण्य-पाप होते हैं तो, उस एकेन्द्रिय जीव के पास तो एक दमड़ी

या वस्त्र का एक धागा भी नहीं है,–इससे बाह्य त्याग अधिक होने से पुण्य हो जाना चाहिए। तथा बाह्य में हिंसा-अहिंसा हो तो, वह एकेन्द्रिय जीव किसी जीव को मारता नहीं है, इससे उसे महान अहिंसक मानना चाहिए। लेकिन ऐसा नहीं है। उस एकेन्द्रिय जीव के तीव्र संक्लेश परिणाम हैं, वही पाप है और वही हिंसा हैं। अपने परिणाम स्वतन्त्र होते हैं, उनका भी जीव भान नहीं करता तो उसे धर्म कहाँ से हो?

(१०) अपूर्व वस्तु क्या है?

यथार्थ तत्त्व के भान बिना जीव, पुण्य-पाप करके महान राजा हुआ और भिखारी भी हुआ; स्वर्ग में गया और नरक में भी गया,–वह कुछ अपूर्व वस्तु नहीं है–उसमें कहीं भी आत्मा की शान्ति नहीं है। अपूर्व वस्तु तो अन्तर में चैतन्य क्या है–उसका भान करना है, और उसी में शान्ति है। भगवान! तुझ में शक्तिरूप से अपार आनन्द और ज्ञान है, उसमें से प्रगट होता है, उसे न मानकर बाह्य से प्रगट होता है–ऐसा माना, वह आत्मा का अनादर है। यथार्थ-स्वरूप क्या है–वह जिसके जानने में आये, उसकी रुचि की दिशा पलट जाये; और रुचि की दिशा पलटने से दशा पलट जाये, प्ररूपणा पलट जाये, उन्मुखता पलट जाये, और संसारदशा पलटकर अल्पकाल में मोक्षदशा हो जाये।

(११) जीव का परमार्थ स्वरूप क्या है? उसे समझे बिना धर्म की क्रिया नहीं होती

यहाँ आचार्यदेव, जीव का परमार्थ स्वरूप समझाते हैं कि–जीव चेतनास्वरूप है। पुद्गल के द्रव्य से, उसके गुण से और पर्याय से आत्मा पृथक् है, जड़ इन्द्रियों से आत्मा पृथक् है, राग-द्वेषी भी आत्मा नहीं है और क्षायोपशमिक अपूर्ण ज्ञान भी आत्मा का परमार्थ स्वरूप नहीं है। आत्मा अकेला चेतनमय है। आत्मा कान द्वारा शब्द को नहीं सुनता किन्तु ज्ञान द्वारा जानता है। पर सन्मुख होकर पर को नहीं जानता किन्तु स्व-सन्मुख रहकर जानने से पर को जान लेता है–ऐसा स्वभाव है। जिस प्रकार सुवर्ण से कुण्डलादि अवस्थाएँ होती हैं, उसी प्रकार त्रिकाली चैतन्य में से उसकी विशेष ज्ञानदशा होती है, उस ज्ञान द्वारा आत्मा शब्द को जानता है। आत्मा स्वयं अशब्द है, वह कान का अवलम्बन किये बिना ही शब्द को जानता है। यहाँ 'अशब्द' कहने से मात्र शब्द से भिन्नत्व की ही बात नहीं है, किन्तु शब्द, शब्द के ओर की उन्मुखता से होनेवाला राग और शब्दादि पर सन्मुख होनेवाला ज्ञान–इन सबको भी शब्द के साथ लेकर, उनसे आत्मा को भिन्न बतलाया है। उपयोग की उन्मुखता स्व की ओर कार्य न करे तथा पर की ओर ही लगी रहे और पर से कार्य लेना माने–उस भाव को आत्मा मानना, वह विपरीत समझ है, वह अनादि की महान भूल है; वह भूल बनाये रखकर जीव चाहे जितना करे, तथापि उसे धर्म नहीं होता, भव-भ्रमण दूर

नहीं होता और आत्मा की शान्ति प्रगट नहीं होती। जिस प्रकार राख के ढ़ेर पर लीपन नहीं होता, उसी प्रकार विपरीत श्रद्धारूपी राख के ढ़ेर पर धर्म का लीपन नहीं होता,–अर्थात् आत्मा के परमार्थ स्वभाव की यथार्थ पहचान के बिना धर्म की क्रिया नहीं होती।

(१२) सम्यग्दर्शन और सच्चा ज्ञान कैसे हो?

सम्पूर्ण आत्मा किसे कहा जाये कि जिसे मानने से सम्यग्दर्शन हो? यह बात चल रही है। आत्मा को अपूर्ण माने तो वह श्रद्धा सच्ची नहीं होगी; किन्तु परिपूर्ण आत्मा जैसा है, उसे वैसा ही जानकर श्रद्धा में स्वीकार करे तो वह श्रद्धा सच्ची हो अर्थात् सम्यग्दर्शन हो। इसके अतिरिक्त पुण्य-राग में या देह की क्रिया में ऐसी शक्ति नहीं है कि उससे सम्यग्दर्शन हो। पुण्य-राग द्वारा आत्मा ज्ञात नहीं होता और उस पुण्य-राग को आत्मा माने तो भी आत्मा ज्ञात नहीं होता। राग-रहित और ज्ञान से परिपूर्ण आत्मा का स्वभाव है, उसे यथावत् जाने तो सच्चा ज्ञान हो। जैसे – १०० की संख्या को १०० के रूप में माने तो वह बराबर माना जायेगा, किन्तु शून्य को सौ रूप में मानले तो वह बराबर नहीं है; १ को १०० रूप में माने तो वह भी बराबर नहीं है। और ९९ को १०० रूप में माने तो वह भी बराबर नहीं है। उसी प्रकार परमार्थ स्वरूप भगवान आत्मा पर से भिन्न परिपूर्ण ज्ञानस्वरूप है, उसे वैसा ही जाने तो सच्चा ज्ञान कहलाये। शरीर-मन-वाणी से आत्मा भिन्न है, इससे उनसे आत्मा शून्य है, आत्मा में शरीर-मन-वाणी की शून्यता है, इससे उनसे आत्मा को शून्य मानना चाहिए, और अवस्था में क्षणिक रागादि भाव होते हैं, वे त्रिकाली स्वभाव में नहीं हैं, इससे स्वभाव में वे शून्य है, इसलिए उन्हें आत्मा नहीं मानना चाहिए। तथापि यदि उस विकार को आत्मा माने तो वह शून्य को १०० मानने जैसा मिथ्या ज्ञान हुआ। और अपूर्ण ज्ञान जितना ही आत्मा को माने तो वह भी अज्ञान है। शरीर से भिन्न, रागादिक से भिन्न, और अपूर्ण ज्ञान जितना भी नहीं–ऐसा पूर्ण ज्ञानस्वभावी आत्मा कैस है? उसे जाने तो सम्यग्ज्ञान हो–धर्म हो और भव-भ्रमण दूर हो जाये। इसके बिना धर्म नहीं होता और भव-भ्रमण दूर नहीं होता। शरीरादि का मैं करता हूँ, अथवा इन्द्रियों से मुझे ज्ञान होता है–ऐसा जो मानता है, उसने पर को आत्मा माना है, वह अज्ञानी है। क्षणिक विकार को पूर्ण आत्मा मानना भी भ्रम है; और अकेले परोन्मुख होते हुए ज्ञान को आत्मा मानना भी अज्ञान है। परोन्मुख होते हुए ज्ञान से आत्मा ज्ञात नहीं होता, उस ज्ञान की प्रतीति करे तो सम्पूर्ण आत्मा प्रतीति में नहीं आता, इससे वह भी मिथ्यात्व है। शब्द-रूपादि आत्मा में नहीं है और पुण्य-पाप विकार भी आत्मस्वभाव में नहीं है। इसलिए उस किसी के द्वारा आत्मा का धर्म नहीं होता। आत्मा के स्वभाव में जो न हो, उससे आत्मा का धर्म नहीं होता।

ज्ञान का जो वर्तमान अल्प विकास है, उतना ही आत्मा नहीं है। क्षयोपशम ज्ञान का अर्थ

है, ज्ञान का विकास। वह ज्ञान का अंश है, उस अंश जितना ही पूर्ण आत्मा नहीं है। पर-सन्मुख होकर रस आदि को जाननेवाला जो ज्ञान है—उस अल्पज्ञता जितना आत्मा नहीं है। यदि अल्पज्ञता जितना ही आत्मा हो तो अल्पज्ञता दूर होकर सर्वज्ञता प्रगट नहीं हो सकती। जो वर्तमान अल्पज्ञ अंश है, उसका भी त्रिकाली स्वभाव की दृष्टि से आत्मा में अभाव है। शरीरादि पर का और विकार का तो आत्मा में अभाव है, किन्तु जिस प्रकार ९९ को १०० मानना मूर्खता है, उसी प्रकार ज्ञान के अल्प विकास को ही पूर्ण आत्मा माने तो उसे भी आत्मा का यथार्थ स्वभाव समझ में नहीं आयेगा।

आत्मा त्रिकाल आनन्द और ज्ञाता स्वभाव है, उसका भान करके उसमें एकाग्र होने से ज्ञान समस्त भूत-भविष्य-वर्तमान को जानता है; ऐसा अखण्ड ज्ञायकस्वभाव होने पर भी, वर्तमान पर-सन्मुख होकर एक अंश को ही जाने, उतने अल्पज्ञान को जो पूर्ण आत्मा मान ले, उसने आत्मा का स्वभाव नहीं जाना है।

आत्मा ज्ञनस्वभावी है, उसकी पर्याय में पहले अल्पज्ञान होता है और फिर बढ़ता हुआ दिखाई देता है, तो वह ज्ञान कहाँ से आता है? किसी संयोग में से ज्ञान नहीं आता; शब्द जड़ हैं, उन शब्दों के श्रवण के कारण ज्ञान नहीं बढ़ता, इन्द्रियों या राग में से ज्ञान प्रगट नहीं होता और पूर्व पर्याय में से भी ज्ञान नहीं आता; जो नित्यस्थायी ज्ञानस्वभाव है, उसी में से ज्ञान की दशा आती है। वह ज्ञान की दशा यदि ज्ञान स्वभावोन्मुख होकर पूर्ण चैतन्यस्वभाव को प्रतीति में ले तो यथार्थ आत्मा प्रतीति में आ जाये। ऐसे आत्मस्वभाव को प्रतीति में लेकर जो आत्मा स्वभाव में एकत्वरूप हुआ, उसने आत्मा को 'अरस' जाना है। रससन्मुख या पर्यायसन्मुख बुद्धि रखकर 'आत्मा अरस है'—ऐसा यथार्थ जाना-माना नहीं जा सकता। रसादि की ओर के ज्ञान जितना मैं हूँ—ऐसा न मानकर, जिसने अपने ज्ञान को अखण्ड आत्मा की ओर उन्मुख करके अभेद किया, उसने आत्मा के यथार्थ स्वभाव को जाना है। अनन्तकाल में नहीं समझी हुई यह आत्मा की अपूर्व बात स्वभावसन्मुख होकर समझना सुलभ है। ऐसे आत्मा को समझने से ही अन्तर में शान्ति और आनन्द प्रगट होता है और भव-भ्रमण का अन्त आता है।

ग्राहकों से सूचना

इस अंक से आप का चन्दा पूर्ण होता है, तो नया वर्ष का चन्दा रु० ३-०-० म०ओ० द्वारा भेजने की तुरन्त कृपा करेंगे। अन्यथा वी०पी० से नया अंक भेजा जायेगा।

श्री तीर्थङ्कर भगवान का आदेश

संसार की चौरासी लाख योनि में अपना सच्चा स्वरूप का अज्ञान से परिभ्रमण करते हुए भिखारियों को देखकर केवलज्ञानी भगवान ने धर्मसभा में से आज्ञा दी कि – 'हे मुनिओं! 'सभी आत्मा प्रभु हैं, सिद्ध स्वरूप हैं'– ऐसा तुम जगत को सुनाओ! तुम पूर्ण हो, प्रभु हो,– इससे पर की किंचित्मात्र इच्छा करना पड़े – 'ऐसा तुम्हारा स्वरूप नहीं है'–पर-पदार्थ की इच्छा करना पड़े–वह भिखारीपना है। अधिक माँगे वह बड़ा भिखारी और कम माँगे, वह छोटा भिखारी–इस प्रकार सभी परवस्तु के छोटे-बड़े भिखारी हैं। (अपने आत्मा को विकार जितना तुच्छ और पराश्रित मानना–वह भिखारीपना है।) ....ऐसे जो चौरासी में भटकते हुए भिखारी हैं–उनके लिए शाश्वत उद्धार का उपाय बतलाने के लिए तीर्थङ्कर प्रभु ने सन्तों से कहा कि–'जगत् से कहा कि'– 'तुम प्रभु हो, अपनी पूर्ण स्वाधीन शक्ति की महिमा की संभालो। हमें तुम्हें तुम्हारी शुद्ध-परिणति के साथ लग्न (लीनता) कराते हैं।'

इस समयसार में भगवान श्री कुन्दकुन्दाचार्य इस चौरासी के भिखारियों को बुलाकर, उनके हृदय में उनका सिद्धत्व स्थापितकर कहा हैं कि–'तुम प्रत्येक आत्मा प्रभु हो, अनन्त पुरुषार्थ, अनन्तज्ञान-आनन्द स्वरूप हो।'–ऐसी आत्मा की प्रभुता की और पूर्ण स्वतन्त्रता की बात सुनने से जो आत्मार्थी हैं, पुरुषार्थी है।–उन्हें तो पहली ही बार पूर्ण की श्रद्धा आती है, और वे पूर्ण की रुचि लाकर विशेष समझने की रुचि बतलाते हैं और उसका विश्वास करते हैं; वे तो स्वाधीन स्व-गृह में प्रविष्ट होते हैं।

जो जीव ज्ञानी के पास से सुनकर 'हाँ' कहकर आत्मा में निर्णय करके कहेंगे कि 'हम पूर्ण-सिद्धसमान परमात्मा हैं, प्रभु हैं' तो वे पूर्ण-सिद्धपद शक्तिरूप से है– उसकी निर्मल परिणति प्रगट करके मुक्तदशा के साथ परिणमित होकर अखण्ड आनन्द प्राप्त करेंगे। परन्तु जिन भिखारियों को अनादि से भटकने की रुचि है, उनसे ज्ञानी कहते हैं कि –'आत्मा पुण्य-पाप से रहित प्रभु है, उसे शुभ विकल्प की सहायता की आवश्यक्ता नहीं है'– उसे सुनकर वे कहते हैं कि – हाय-हाय! ऐसा कैसे हो सकता है? – इस प्रकार हाय-हाय पुकार करते हैं।...

...किन्तु एकबार तो श्रद्धापूर्वक कह कि –'पुण्यादि की आवश्यकता नहीं है; क्योंकि सिद्ध-परमात्मा में उस किसी भी उपाधि का अंश नहीं है, और मेरा स्वरूप भी वैसा ही है।'

पर के लिए वृत्ति उठे, वह भी विकारीभाव है, मेरा स्वभाव नहीं है–इस प्रकार अन्तर से एकबार 'हाँ' कहना चाहिए। लेकिन जो सुनते ही 'ना' कहता है–हाय-हाय करता है–उसे संसार

में पुण्यादि पराश्रय की मिठास द्वारा भटकना योग्य मालूम होता है, मुक्त होने की बात नहीं जमती; इससे वे कहते हैं कि–'इतने-इतने काल के हमारे किए हुए सभी पर पानी फिरता है, इसलिए हमारा पुण्य का कर्तव्य रखकर यदि कोई बात हो तो कहो!' लेकिन भाई! जिस प्रकार मार्ग हो, उससे विरुद्ध कैसे कहा जा सकता है? आत्मा तो पर से निराला चिदानन्दस्वरूप है। पुण्य-पाप की वृत्ति, दया-हिंसा की वृत्ति, वह तेरा स्वरूप नहीं है। प्रथम ऐसा विश्वास कर.... आत्मा के सिद्धपने की यह बात सुनकर जो हाय-हाय करता है–अस्वीकार करता है, उसे अपना भगवानपना नहीं जमता है। चौरासी में परिभ्रमण करनेवाले भिखारियों को ज्ञानी ने अनन्त दुःखों से छूटकर अनन्त सुख का उपाय बतलाया–वहाँ पहली ही बार 'ना' आती है; क्योंकि उस भिखारी को अपनी महत्ता, पूर्णता का विश्वास नहीं है–पुरुषार्थ दिखायी नहीं देता–इससे वह भविष्य में अनन्त संसार का भिखारी रहना चाहता है।

जितना वीर्य पुण्य-पापरूप बन्धन भाव में रुकता है, वह आत्मा का स्वभाव नहीं है। जिसप्रकार हिंसा, झूठ, अव्रत आदि अशुभभावों से पाप बन्धन है, उसी प्रकार दया, सत्य व्रत, आदी शुभ-भावों से पुण्य-बन्धन हैं,–धर्म नहीं है। मात्र आत्मा के शुद्धभाव से ही धर्म होता है।– ऐसी प्रथम बात सुनते ही उलटा जीव हाय-तौबा मचाता है, और कहता है कि–इसमें तो स्वर्ग और पुण्य भी नहीं रहा। हमें प्रारम्भ में तो होना ही चाहिए न? फिर भले छोड़ने के लिए कहो! लेकिन ज्ञानी कहते हैं कि श्रद्धा में प्रथम से ही छोड़! मैं सिद्ध जैसा ही हूँ, मुझे कुछ नहीं चाहिए– इस प्रकार एकबार तो 'हाँ' कह! तू मोक्षस्वरूप है,–इसका एकबार स्वीकार कर; अपने आत्मा में सिद्धत्व की स्थापना करके मोक्ष का प्रस्थान रख। आचार्यदेव मोक्ष का मण्डप डालकर तुझमें मोक्षपद की स्थापना करते हैं ..... जैसे सिद्ध परमात्मा हैं, वैसा ही तू है। वर्तमान क्षणिक अपूर्णता को न देखकर अपने अविनाशी पूर्ण-स्वभाव को देख! 'मैं सिद्ध हूँ'– ऐसा विश्वास अन्तर में लाये और उसकी महिमा करता रहे, वह सिद्धपरमात्मा हुए बिना नहीं रहेगा। किन्तु जिसने पहले से ही 'प्रभुपना नहीं चाहिए'–ऐसी हाय-हाय की है और 'पुण्य बिना अकेला आत्मा नहीं चाहिए'– ऐसा मान लिया है–वह तो 'केवली के पास रह गया कोरा,'– क्रिया-काण्ड करके थक गया, पुण्य-भाव में उलझ गया। पुण्य तो क्षणिक संयोग देकर छूट जायेगा, उससे आत्मा को क्या? 'मैं पर से पृथक् हूँ, पुण्यादि की सहायता के बिना अकेला पूर्ण प्रभु हूँ'–ऐसे विश्वासपूर्वक जिसने अन्तर में काम नहीं लिया, वह पुण्यादि में मिठास मानकर, बाह्य में सन्तोष मानकर रुका है– उसे भगवान चौरासी का भिखारी कहते हैं।

जिसे जिसकी रुचि हो, उसे उसकी भावना में हद नहीं होती। पूर्ण, पूर्ण, पूर्ण! तू

अखण्डानन्द अकेला परमात्मा–प्रभु ही है। भगवान आचार्यदेव कहते हैं कि 'सुनो ! त्रिलोकीनाथ तीर्थङ्करदेव की ऐसा आज्ञा है कि हे जीवो ! पूर्ण की रुचि करो ! अपार स्वभाव की स्वतन्त्ररूप से घोषणा करो ! अपने से अपने पूर्ण पद को मानने-जानने और उसमें एकाग्र होने से ही परम कल्याण होता है।'

अहो ! अनोखी बात कही है ! यह बात जिसे जम जाये, उसके झगड़े-झंझट दूर हो जाते हैं। समस्त आत्माओं को सिद्ध समान प्रभु और स्वतन्त्र जाना, उसमें विरोध कहाँ रहा? जिसने सिद्ध परमात्मा के साथ अपना मेल किया, अर्थात् स्वयं को सिद्ध समान जाना, वह किसके साथ विरोध करेगा? जो सिद्ध में नहीं है, वह मेरा स्वरूप नहीं है, और जैसा सिद्ध में है, वैसा मेरा स्वरूप है।–जिसे ऐसा परमात्मभाव दिखायी दिया उसे, उससे विरुद्ध ऐसे जो शुभाशुभ परिणाम दिखायी देंगे, उन्हें निकाल देने से अकेला पूर्ण स्वरूप रहेगा, यानी सिद्ध हो जायेगा। जिस जिसने अपने पूर्ण परमात्मपद को पहचानकर अपने में उसकी स्थापना की है, वे पुण्य-पाप आदि अन्य की स्थापना नहीं करेंगे.... सिद्ध हमारे इष्ट हैं, उनकी हम अपने आत्मा में स्थापना करते हैं। अखण्ड ज्ञायकरूप निर्मल निर्विकल्प सिद्धपना हमारा स्वरूप है। है, वह सदैव रहता है; इसके अतिरिक्त जो भी शुभ-अशुभराग की वृत्ति उठती है, वह पर है; –ज्ञान कर, 'मैं सिद्ध आत्मा अशरीरी हूँ' – इस प्रकार जिसने आत्मा में सिद्धत्व की स्थापना की, उसने अपने में महा मांगलिक मोक्ष का प्रारम्भ किया है... आत्मा शुद्ध ज्ञाता ही है; उसमें पूर्ण प्रभुत्व स्थापित किए बिना तीनकाल तीनलोक में मुक्ति के लिए कोई दूसरा उपाय नहीं है... अहो ! कितनी विशाल दृष्टि ! प्रभुपना और प्रभु होने का उपाय अपने में ही है।

भगवान श्री कुन्दकुन्द-कहान जैन शास्त्रमाला के

हिन्दी प्रकाशन

समयसार -प्रवचन (भाग-१)	[पू० श्री कानजीस्वामी कृत प्रवचन] मूल्य ६-०-०
समयसार -प्रवचन (भाग-२)	[पू० श्री कानजीस्वामी कृत प्रवचन] मूल्य ६-०-०
समयसार -प्रवचन (भाग-३,४)	तैयार हो रहे हैं।
मोक्षशास्त्र-टीका	तैयार हो रहा है।
भेदविज्ञान सार	[पूज्य श्री कानजीस्वामी के धार्मिक महोत्सव के दिनों में समयसार पर प्रवचन, छप रहा है।
जैन बालपोथी	०-४-०
मुक्ति का मार्ग (सत्तास्वरूप पर प्रवचन)	०-१०-०
मूल में भूल (उपादान-निमित्त संवाद)	०-१२-०
वस्तुविज्ञान सार (जैन गीता)	जिज्ञासुओं को भेंट
नन्दीश्वर-द्वीप पूजन	०-१२-०
दशलक्षण-धर्म प्रवचन	०-१२-०
मोक्षमार्ग प्रकाशक की किरणें (आत्मधर्म के ग्राहकों को भेंट)	१-२-०
प्रवचनसार (अक्षरशः हिन्दी अनुवाद)	१-२-०
आत्मधर्म की फाइलें	३-१२-०

[इस शास्त्रमाला की ५१ पुस्तकें प्रसिद्ध हो चुकी हैं। उपरोक्त पुस्तकों के अतिरिक्त अन्य पुस्तकें गुजराती भाषा में हैं, उनका सूची पत्र मँगा सकते हैं।]

—: मिलने का पता :—

श्री जैन स्वाध्याय मन्दिर, सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

मुद्रक : चुनीलाल माणेकचन्द रवाणी, शिष्टसाहित्य मुद्राणालय मोटा आंकड़िया (अमरेली)
प्रकाशक : जमनादास माणेकचन्द रवाणी, अनेकान्त मुद्राणालय मोटा आंकड़िया (अमरेली)